

पुरुषार्थ के त्रिविध साधन-विद्या, कर्म, तप

डॉ. वन्दना मण्डोर

मानव का सर्वाङ्गीण विकास 'पुरुषार्थ' से ही माना गया है। पुरुषार्थ योजना में 'पुरुषार्थ' एक पारिभाषिक शब्द है, जिसका सीधा-सा अर्थ उन साधनों से माना गया है जो हमारे जीवन को भी सञ्चालित करते हैं। 'पुरुषार्थ' से व्यक्ति का विकास तो है ही, साथ ही समाज का भी उत्कर्ष भी है। इसलिए 'मोक्ष' ही पुरुषार्थ की अन्तिम परिणति है यही आध्यात्मिक जीवन का अन्तिम और उच्चतम उद्देश्य भी माना गया है और उपनिषदों में मोक्ष के लिए कर्म की अपेक्षा ज्ञान को अधिमान दिया गया है, किन्तु मानव धार्मिक और आध्यात्मिक पथ पर चलकर ही इसे प्राप्त कर सकता है, इसलिए सर्वश्रेष्ठ प्रकाशपुञ्ज और ज्योतियों में श्रेष्ठज्योति परमात्मा से ज्ञान-प्रकाश की याचना की गई है जो मोक्ष का स्वरूप है; अतः मोक्ष ही मुक्ति का मार्ग है। इसके लिए शुद्ध आचरण की आवश्यकता है और आचरण व साधन का नाम ही कर्म है। जब हम इस पर विचारते हैं तो निम्नलिखित साधन पुरुषार्थ-सम्पादन हेतु अनिवार्य दिखाई देते हैं।

(1) विद्या (2) कर्म (कर्ममीमांसा) (3) तप (आत्म-परिशोधन)

पुरुषार्थ के त्रिविध साधन में सबसे प्रथम स्थान विद्या का है-

(1) **विद्या** - मानव-जीवन में विद्यालय का स्थान - विद्या धन को प्रारम्भ में ही मान्यता प्राप्त होती है। अतः जीवन में विद्या को सर्वोपरि माना है। वह उसी प्रकार स्वयंसिद्ध है जिस प्रकार मुखारविन्द में नेत्रों की। ज्ञानालोक से जीवन आलोकित हो उठता है। विद्या के बिना व्यक्तित्व सङ्कुचित, मस्तिष्क सीमित और जीवन बोझिल हो उठता है 'यदैव विद्या करोति तदैव वीर्यवन्तर भवतीती'।^१

अतः अज्ञानता अन्धकार के समान है और अज्ञानी का जीवन अन्धकारमय हो जाता है। जो कर्म विद्या, श्रद्धा और मनोयोग से किया जाए, वही प्रबलतर होता है। **विद्यानाम नरस्य रूपमधिकं प्रच्छन्न गुप्तं धनम्।**^२ इसलिए विद्या को देवलोकप्रदायनी भी कहा गया है। जब साधारण कर्म भी ज्ञान के, विद्या के बिना कठिन है तो 'पुरुषार्थ' सदृश गहन-गम्भीर कर्म ज्ञान के बिना कैसे सम्भव हो सकता है ? फलतः ज्ञान (विद्या) ही 'पुरुषार्थ' का प्रमुख साधन मानी गई है, इसलिए बालकों को बाल्यकाल में ही उपनयनसंस्कारपूर्वक गुरुकुल में प्रविष्ट करना अनिवार्य था।

^१ छान्दोग्योपनिषद् 1/11/10

^२ बृहदारण्यकोपनिषद् 1/5/16

प्राचीनकाल में गुरुकुल में प्रवेश से पहले बालकों को कुछ नियमों का पालन करना अनिवार्य था जो शुद्धाचारण के लिए आवश्यक माने गये और अग्नि-परिचर्या के नैतिक-नियमों का पालन करना शिष्यों का धार्मिक व्रत भी था और अनुशासन का एक अङ्ग भी था। इसलिए धर्मपालन में उन्हें प्रमाद न करने का आदेश मिलता है। ये नियम शिष्यों की शक्तियों को उत्कृष्टता प्रदान करता है। इसलिए विद्यार्थियों के आचरण में तप, दान और सत्याचरण आदि अनिवार्य माने गये हैं, क्योंकि धर्ममूलक वृत्तियाँ इन्हीं गुणों से उत्प्रेरित रहती हैं।

‘गुरुकुलों’ में गुरु की सेवा करते हुए ही शिक्षा ग्रहण करने की परम्परा थी। गुरु और शिष्य का सम्बन्ध पिता और पुत्र के समान माना जाता था। शिष्य भी अपने गुरु को आदर और सम्मान देते थे। **सर्व एते पुण्यलोको भवन्ति।^१** गुरु की सेवा से शिष्यों को पुण्यलोक की प्राप्ति मानी है।

सत्याचरण - सत्य, सेवा जीवन के उच्च आदर्श होते हैं। अतः संस्कृति के प्रत्येक युग में सत्य को महान् आदर प्राप्त है, किन्तु उपनिषद्काल में यह परम्परा विशेष मुखर है।

आचिनोति च शास्त्रार्थमाचारे स्थापयत्यपि ।

स्वयमाचरते यस्मादाचार्यस्तेन चोच्यते ॥ (वायुपुराण)

आदर्श आचार्य के सान्निध्य में ही यथार्थ ज्ञान की उपलब्धि सम्भव है, क्योंकि शास्त्रों के सार को संचय करते हुए वही अपने शिष्यों को ज्ञान के सञ्चार में प्रवृत्त कर सकता है।^२ अतः वैदिककाल में विषयों में पारङ्गत और व्युत्पन्न आचार्यों की एक सुदीर्घ परम्परा होती है जो न केवल नम्रता और निरभिमानता के प्रतिरूप थे, अपितु सत्याचरण में भी अप्रतिम होने के कारण अपने शिष्यों को मुक्तिमार्ग का निदर्शन करने में भी सक्षम होते थे। इसलिए गुरु अपनी शिक्षा द्वारा अपने शिष्यों के अन्तस् में उद्दीप्त ज्ञान-दीपक को अनावृत कर ज्ञान की किरणें फैलाते हैं। इसलिए शिष्य भी गुरु का आदर करते थे और उनकी पूजा करते थे और गुरु को भगवान् के समान मानते थे। गुरु को ‘देव’ की उपाधि दी गई है। इस प्रकार तद्युगीन गुरुकुलों में उत्तम शिक्षाप्रबन्धों के प्रमाण मिलते हैं।

गुरुकुल में गुरु का व्यवहार भी शिष्यों के प्रति स्नेहहिल था और गुरु भी अपने योग्य और आज्ञाकारी शिष्यों का मान्य करते थे।^३ उपनिषदों की कथाएँ भी गुरु और शिष्यों के वात्सल्यमय सम्बन्धों पर प्रकाश डालती हैं। **आचार्य एवं दक्षिणा** - शिष्यों को पूर्णरूपेण सुशिक्षित करने के पश्चात् शिष्य द्वारा अपने गुरु को गुरु दक्षिणा देने की परम्परा थी, जिसका पालन करना परम कर्त्तव्य माना जाता था; **आचार्याय प्रियं धनमाहृत्या।^४** इसका आशय है कि शिष्यों का गुरु के प्रति आदर भाव व

^१ छान्दोग्योपनिषद् 2/2, 3/1

^२ सत्यार्थप्रकाशः द्वितीय समु. पृ. 28

^३ तैत्तिरीय उपनिषद् 1/1/4, छान्दोग्योपनिषद् 5/3/6, 5/11/5

^४ तैत्तिरीय उपनिषद् 1/11/1

कृतज्ञता का ज्ञापन था। अन्यथा ज्ञान-सम्पदा और दक्षिणा की क्या तुलना ? वस्तुतः ब्रह्मविद्या सर्वाधिक मूल्यवान् होती है, जिसे दक्षिणा की तुला में नहीं तौला जा सकता है, किन्तु गुरु का सम्मान आवश्यक था।

ज्ञान के द्विविध साधन - मोक्ष योजना में ज्ञान की अपेक्षा अपरिहार्य है। **तनेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाया।^१ ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः। ज्ञानान्मुक्तिः ज्ञानमेव तु कैवल्यम्।^२ तरति शोकमात्मवित्।^३ सम्यग्विवेकेनात्मकथनम्^४ ;** जिसके बिना मुक्ति सम्भव नहीं है। अतः उपनिषदों में भी लोक-परलोक को ज्ञान की दो धाराएँ दिखाई देती हैं।

1. प्रेयस् - भौतिक
2. श्रेयस् - अलौकिक

श्रेयस् परलोक और प्रेयस् लोकोपभोग के मार्ग का नाम है। लोक इन्द्रियों का मार्ग है और परलोक आत्मा का पथ। इन्द्रियाँ बहिर्मुखी हैं, अतः लोक उनका विषय है और आत्मा अन्तर्मुखी है।

अरस्तू का भी मानना है कि परलौकिक कार्यों को प्रधान और इहलौकिक को गौण माना गया है। अतः इन्द्रियों को उन्नत किये बिना आत्मा को उन्नत नहीं किया जा सकता है। इसलिए इन दोनों को एक-दूसरे का पूरक माना गया है।

प्रेयस् - प्रेयस् प्रिय एवम् इच्छानुसार भोगों की प्राप्ति का सांसारिक मार्ग है तथा प्रवृत्ति, मन, वाणी और शरीर द्वारा कार्य में प्रवृत्त होने का नाम है। अतः फल कामना से कर्म करने एवम् उनके सुख-दुःख को भोगने का लौकिक मार्ग है। जो लाभ और कल्याण को ही जीवन का उद्देश्य मानते हैं। **योगक्षेमार्थमीश्वरमधिगच्छेत्।^५ योगक्षेमशब्देन योगक्षेमकारिणा मिताक्षरा।^६** यह प्रायः विषय-वासना और कामनाओं में व्यस्त रखने वाला मार्ग है। संसारी मनुष्य परिणाम को नहीं विचारते हुए इसकी ओर प्रवृत्त होते हैं और जीवन के वास्तविक लक्ष्य से विमुख होकर बारम्बार जन्म-मरण के भव-चक्र में घूमते रहते हैं, जिससे हम कभी मुक्त नहीं होते हैं। इसे ही पितृयान कहा गया है।

श्रेयस् - श्रेयस् मार्ग आत्मकल्याण और आनन्दघन परब्रह्म की प्राप्ति के लिए सुनिश्चित साधन है जो संयम, आराधन और आत्मज्ञान का भी साधन है। अतः आनन्दान्वेषण का मङ्गलमय मार्ग भी

^१ यजु. 39/18

^२ वै.सू. 1/1/4

^३ छान्दोग्योपनिषद्, 7/1/3, साङ्ख्य सूक्त 3/23, न्याय सूक्त 1/1/1

^४ गीता 4/38

^५ विष्णु घ. सू. 63/2, ऐ.ब्रा. 37/2, मनु. 7/127, गौ.घ.शा. 28/46, ऋग्वे. 7/8, 6/8, तै.सं. 3/9/19/3

^६ याज्ञ. 2/119

माना जाता है। इसलिए मैत्रेयी ने अपार धन सम्पदा को ठुकराती हुई याज्ञवल्क्य से प्रार्थना करती है कि वह जिसे भी अमृतत्व का साधन मानते हैं, कृपया वही मार्ग उसे सुझाएँ। इससे श्रेयस् मार्ग की श्रेष्ठता प्रकट होती है। प्रेयस् मार्ग और श्रेयस् मार्ग दोनों एक-दूसरे से भिन्न हैं। इनके लक्ष्य और साधन भी भिन्न हैं। अतः कठोपनिषद् का मानना है कि श्रेयस् कल्याण का मार्ग और प्रेयस् सांसारिक मार्ग।

परवर्ती पूर्वमीमांसा भी यही मानती है कि जिन कर्मों के फल अदृष्ट अर्थात् परलोक सम्बन्धी है, वह प्रधान है और जिनका फल दृष्ट अर्थात् लोकसम्बन्धी है, वह गौण है। यही क्रमशः श्रेयस् और प्रेयस् है। ये विभिन्न परिणामों और सशक्त अभय मार्ग मानव को अपनी-अपनी ओर आकर्षित करते हैं, किन्तु यह सत्य है कि श्रेयस् ही मोक्ष का मार्ग है।^१

मनुष्य कर्म-योनि और भोग-योनि दोनों हैं, इसलिए इसे उभय-योनि कहा गया है। मनुष्य अपने जीवन का निर्माता भी होता है। अतः दोनों मार्गों का एकाङ्गी मार्ग अनुसरण न करने का परामर्श देते हुए उपनिषदों का कहना है कि जो इनमें से किसी एक को ही अपनाते हैं, वे एकाङ्गी होने के कारण अन्धकार में पड़ते हैं एवं जो मानव सांसारिक आकर्षण को तोड़कर वे हंसवत् नीर-क्षीर विवेक द्वारा मङ्गलमय श्रेयस् का वरण करते हैं। वो परमात्मा को पा लेते हैं, इसे ही देवयान कहा गया है। **सत्येन पन्था विततो देवयानः।^२ कि नाम धीमत्प्रतिभाम्बुवाहः।^३** श्रेयस् और प्रेयस् रूपी जीवन पद्धतियों को क्रमशः विद्या और अविद्या भी कहा गया है। पुरुषार्थ त्रिविध साधन में दूसरे स्थान पर कर्म है।

(2) कर्म (कर्ममीमांसा) - उपनिषदों में कर्म को सबसे अधिक महत्त्व देते हैं। परवर्ती पूर्वमीमांसा का मानना है कि कर्म पर अधिकार केवल मानव को मिला है, जिसका उसे उसका लाभ उठाना चाहिये और कर्तव्य-कर्मों का अनुष्ठान अमृतत्व का साधन माना गया है और कर्मशील व्यक्ति ब्रह्मज्ञानियों में परिगणित है। अतः पाप कर्म का फल पाप और पुण्य कर्म का फल पुण्य मानना यह मान्यता तो प्राचीनकाल से चली आ रही परम्परा है। शुभ कर्मों की सार्थकता इन्द्रियों को वशीभूत करने में है, जिससे लक्ष्य सिद्धि सम्भव है। अतः शुभ कर्म को ही सुख और मोक्ष का साधन भी माना गया है। कर्मों की महिमा सदा से है।

मनु का मानना है कि मानव जिस कर्म को आत्मा और मन से करता है, जिसके करने से उसे भय तथा लज्जा नहीं होती है, अपितु प्रसन्नता होती है, वही सात्त्विक कर्म है।^४

परवर्ती ब्रह्मसूत्र का भी यही मानना है कि भले-बुरे कर्मों का सामर्थ्य सदा में है, इसलिए कर्म अनादि सिद्ध होते हैं। ब्रह्मविद्या जो भले कर्मों का सिरमौर है, लेकिन धार्मिक कृत्यों के अनुष्ठान से ही

^१ कठोपनिषद् 1/2/1-2

^२ मुण्डकोपनिषद्, 3/1/6

^३ ऋग्वेद, 10/88/15

^४ मनुस्मृति 12/37, तु. सत्यार्थप्रकाश नवम समु., पृ. 239

उत्पन्न होती है। यह कर्म का ही अङ्ग है और उसके साथ-साथ यह पुरुषार्थ का भी साधन बन जाती है। अतः क्रियात्मक होने के कारण “पुरुषार्थ” का प्रधान साधन शुभ कर्म ही माना जाता है।

उपनिषद् मानते हैं कि नियमपूर्वक श्रेष्ठाचरण वाले अन्त में ब्रह्मलोक को प्राप्त होते हैं।^१

संसार में कर्म का असीम महत्त्व है, इसलिए विश्व को कर्म प्रधान कहा गया है **करम प्रधान विश्व रचि राखा**।^२ इसलिए शास्त्रों ने मोक्ष हेतु ज्ञान, कर्म और उपासना का त्रिवर्त मार्ग दर्शाया है। जिसे त्रयीविद्या भी कहा गया है। समष्टिरूप से त्रयीविद्या का नाम वेद है। यदि वेदों के ज्ञान, कर्म और उपासना का रहस्य ज्ञान होता है जो कर्म के सिद्धान्त पर आधारित है। कर्मफल और फलभोक्ता जीव, ये तीनों कार्यकारण कहे गये हैं तथा कर्मों से ही जाति, आयु और भोग मिलते हैं। वेदों में भी ज्ञान से विवेक की उत्पत्ति सत् कर्मों से शरीर का अन्तभाव और उपासना से परमगति की प्राप्ति मानी गई है। इसलिए यज्ञादि कर्म ब्रह्मविद्या के हेतु माने गए हैं जो मोक्ष के लिए परमावश्यक है। अतः जैसे ईश्वरीय इच्छा का क्रियात्मक प्रकाशन यह ब्रह्माण्ड है, उसी प्रकार अपने प्रबल प्रभाव और भौतिक-साधनों के रूप में हमारे शुभकर्म भी ब्रह्मप्राप्ति के स्वयंसिद्ध स्वतन्त्र कारण हैं।

पुरुषार्थ के त्रिविध साधन में तीसरे स्थान पर तप है।

(3) **तप** - मनुष्य तप द्वारा अपनी इन्द्रियों पर नियन्त्रण करता है। ‘आत्मपरिशोधकः तपः’ जैसे अश्वविद्या विशारद कुशल सारथी चञ्चल को साधता है, उसी प्रकार शरीर, प्राण, इन्द्रियों और मन को उचित रीति और अभ्यास से वश में करना और द्वन्द्वों को सहना ‘तप’ है। अतः औपनिषद् में भी स्वाध्याय और प्रवचन आदि के परिपालन को तप कहा गया है। **स्वाध्यायप्रवचने...तप इति तपोनित्य**।^३ उपनिषद्सारांश गीता में स्वाध्याय को वाणी का तप माना है। इसलिए तप का पालन करना अनिवार्य माना जाता है। प्रजापति ने भी देव, मानव और असुरों को द, द, द अर्थात् दम, दान और दयारूपी तप का उपदेश दिया था, **तेभ्यो हैतदेवाक्षर मुवाच ‘द’ इति**।^४ इससे सङ्केत प्रतीत होता है कि संसार में मानव, देव, दानव तीनों ही वृत्तियाँ हैं और इनके उदात्तिकरण का नाम तप है। तप आत्मा के परिशोधन द्वारा उसे मोक्षोन्मुखी बनाता है। तप के लिए सबसे पहले अपनी इन्द्रियों को वश में करना है, जिससे ध्यान केन्द्रित होता है। दम, दान, दया ये तीनों को तप के लिए सर्वश्रेष्ठ माना है।

दम - दम का अर्थ इन्द्रियदमन से है, जिन्हें विवेक-बुद्धि से ही नियन्त्रित किया जा सकता है। अतः दम से विद्या और विद्या से ज्ञान सम्भव है। मानव को अपने मन-मस्तिष्क और शरीर पर

^१ छान्दोग्योपनिषद्, 8/15/1

^२ रा.च.मा, 43/4/125, गीता 9/21

^३ तैत्तिरीयोपनिषद्, 1/9/1, योग 2/9

^४ बृह. उप. 5/2/

समानरूपेण नियन्त्रण की आवश्यकता है। अतः दम की सार्थकता इसीमें है कि इसके द्वारा इन्द्रियप्रसादन और उससे आत्मा साक्षात् मुमुक्षु शोक से रहित होकर ब्रह्म को पा लेती हैं।^१ ब्रह्मा के जानने वाले स्वयं ही ब्रह्मस्वरूप हो जाते हैं।

दान- दान भौतिक वस्तु है। दान को धर्म का अर्जन और उत्सर्जन भी माना जाता है, इसलिए दान 'धर्म' में परिगणित है और दान सामाजिक पावन दायित्व है जो व्यष्टि से समष्टि को जोड़ने का एक महान प्रयास है। भोग के पश्चात् 'अर्थ' का अन्य उपयोग दान है। अतः उपनिषदों में दान पर बल देते हुए कहा है कि दान श्रद्धा से, भय से या लज्जा से किसी भी प्रकार से अवश्य ही देना चाहिये। **श्रद्धा देयम्। अश्रद्धया देयम्। श्रिया देयम्। ह्रिया देयम्। भिया देयम्। संविदा देयम्। रत्नं दधाति दाशुणो^२।** समय, स्थान और सुपात्र को देख निःस्वार्थभाव से दिया गया सात्त्विक अर्थात् सर्वश्रेष्ठ माना गया है। इससे सामाजिक कर्तव्यों का पालन तो होता ही है, हमें संसार से भी जोड़ता है, जो परमात्मा की लीलास्थली है। उत्तम वस्तुओं के दान देने पर बल देते हुए कहा है कि ऐसा दान आनन्दपूर्ण लोकों को दान देने वाला है। **द्राधीयांसमनुपश्यते पन्थाम^३।** परवर्ती-साहित्य में मानव को उदार और दानी होने का सन्देश है।

दया - दया सर्वव्यापी भाव है जो विशेषतः मानव में चरितार्थ होती है। समस्त प्राणियों में अन्य के प्रति करुणा, उदारता और सहानुभूति के भाव होने चाहिये। परतः यही दया-भाव अष्टाङ्गयोग और गीता की अहिंसा-भावना की पृष्ठभूमि बनाता है। योग के 'यम' में इसे ही अहिंसा नाम से प्रथम स्थान मिला है **'अहिंसासत्यस्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः^४'** एवं गीता में इसे ही देवीसम्पदा की सज्जा दी गई है। परवर्ती जैन और बौद्धमतों की अहिंसा भावना का पल्लवन भी उपनिषदों के मूल से स्फुटित दया-भावना को ही माना गया है जो मोक्ष की ओर ले जाने का मार्ग प्रशस्त करती है।

डॉ. वन्दना मण्डोर

30/34, अब्दालपुरा, उज्जैन (म.प्र.)

^१ कठोपनिषद् 1/2/20, 23

^२ तैत्तिरीय उपनिषद्, 1/11/3

^३ कठोपनिषद् 1/1/3, ऋग्वेद 10/117/5

^४ योग, 2/30, गीता 16/2
